वैज्ञानिक शोध, मूर्खता और सफलता

पी. बालाराम

व्याख्यान और कमेटी की बैठकें अक्सर नए मुहावरे सीखने के मौके देती हैं। इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज़ की वार्षिक बैठक में भारत के जाने-माने वैज्ञानिक सी.एन.आर. राव ने वैज्ञानिक अनुसंधान और अकादमिक प्रयासों की खुशी व तकलीफों के बारे में चर्चा की।

उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक अनुसंधान के नतीजों को तार्किक परिणति तक पहुंचाया जाना चाहिए और इसके लिए अनुसंधानकर्ता को अनुसंधान के निष्कर्ष प्रतिष्ठित विज्ञान पत्रिकाओं और जर्नलों में प्रकाशित करवाने चाहिए। इस 'लास्ट माइल' यानी मील के इस अंतिम पत्थर को पार करना ही कई बार काफी कठिन हो जाता है। 'लास्ट माइल' मुहावरे का प्रयोग नंदन नीलेकनी ने विशिष्ट नागरिक पहचान नंबर परियोजना के सिलसिले में आयोजित एक व्याख्यान में किया था।

राव का कहना था कि कई वैज्ञानिक 'समीक्षक थकान' के शिकार हो जाते हैं। इस मुहावरे का उन्होंने बहुत ही शानदार ढंग से इस्तेमाल किया जो असहमत व निष्ठुर समीक्षकों और कठोर संपादकों के हमलों से निढाल व परास्त हो चुके लेखक की छवि हमारे सामने पेश कर देता है। अच्छे वैज्ञानिक जर्नलों की सूची हासिल करना ही आसान काम नहीं है। सफलता के लिए धैर्य, प्रतिबद्धता, दृढ़ता और उत्साह की ज़रूरत होती है। अपने शोध को सर्वश्रेष्ठ जर्नलों में प्रकाशित करने का दबाव भारत में बढ़ता जा रहा है। अकादमिक क्षेत्र में प्रवेश करने वाले नए लोगों को प्रतिस्पर्धा के एक ऐसे क्षेत्र में ढकेल दिया जाता है जहां सफलता की राह में कदम-कदम पर कांटे बिछे होते हैं। समीक्षकों और संपादकों पर अक्सर मौजूदा फैशनों का दबाव होता है और इस वजह से कई बार बहुत ही सावधानीपूर्वक किया गया विद्वत्तापूर्ण कार्य भी खारिज़ कर दिया जाता है। कुछ जर्नलों के कार्यालयों में संपादकीय टीम के सदस्य खोज या अनुसंधान की प्राथमिक समीक्षा इस आधार पर करते हैं कि उस अनुसंधान के निष्कर्ष का 'महत्व' क्या है। ऐसी स्थिति में अकादमिक और विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान की बजाय मौजूदा फैशन (नैनोस्ट्रक्चर्स, स्टेम कोशिकाएं या जलवायु परिवर्तन) बाज़ी मार ले जाती है। इसमें लेखन शैली महत्वपूर्ण होती है। शुरुआती पैराग्राफ में अक्सर 'पैराडाइम शिफ्ट' का वादा किया जाता है। यह ऐसी शब्दावली है जिसे जितना समझा नहीं गया, उससे ज़्यादा दुरुपयोग किया गया है। संपादक प्रभाव कारकों का अनुसरण करने के दबाव में होते हैं, जबकि विश्वविद्यालयों के प्रशासकों को अपने संस्थान के रैंकिंग की चिंता होती है। इसलिए युवा (जो कई बार इतने भी युवा नहीं होते हैं) अकादमिक वैज्ञानिकों पर अक्सर बहुत अधिक दबाव रहता है। भारतीय अकादमिक परिदृश्य में बढ़ते सम्मानों, पुरस्कारों और प्रोत्साहन राशि से प्रतिस्पर्धा का तनाव बढ़ जाता है। यह तनाव एक से दूसरे तक पहुंचता है और अक्सर उन विद्यार्थियों पर प्रभाव डालता है जो अनुसंधान कैरियर शुरू ही करने वाले होते हैं।

अपने शोध का प्रकाशन करवाने के इच्छुक लेखकों को सबसे पहले तो गोपनीय समीक्षा प्रणाली को पार करना होगा। ऐसे लेखकों को काफी धैर्य के साथ अस्वीकृति का पत्र स्वीकारने को भी तैयार रहना चाहिए। यह इसलिए ज़रूरी है ताकि लेखक एक गहरी सांस लेकर फिर से कोशिश कर सके। इस मामले में उन वैज्ञानिकों को सफलता मिलती है, जो स्थानीय आलोचनाओं अथवा कठोर समीक्षकों के सामने डटे रहते हैं। 'समीक्षक थकान' से परास्त होने की प्रवृत्ति का मुकाबला किया जाना चाहिए। आनंदमयी उत्साह हमेशा एक कारगर दवा का काम करता है।

आखिर विज्ञान में कोई अपने कैरियर की शुरुआत कैसे कर सकता है? महत्वाकांक्षा भले ही एक ज़रूरी शर्त

हो, लेकिन विज्ञान में सफलता के लिए यह पर्याप्त नहीं हो सकती। मैं इस बात पर विचार कर ही रहा था कि क्या अनुसंधान में सफलता का कोई नुस्खा हो सकता है, तभी एक युवा व उत्साही छात्र ने मुझे एक बेहद आकर्षक शीर्षक वाला निबंध भेजा : 'वैज्ञानिक अनुसंधान में मूर्खता का महत्व' (एम.ए. श्वाट्र्ज़, सेल साइंस, 2008)। मेरे दो सहयोगियों ने भी इस निबंध की ओर मेरा ध्यान खींचा। श्वाट्र्ज़ के शब्दों में, 'विज्ञान मुझे मूर्ख होने का भी एहसास करवाता है। अब तो मैं इसका इतना आदी हो गया हूं कि मूर्ख महसूस करने के नए-नए अवसर तलाशता हूं।' श्वाट्र्ज़ ने 'मूर्ख महसूस करना' शब्दावली का इस्तेमाल उस मनःस्थिति के लिए किया है जिसमें मैं (और उम्मीद है कि अन्य शोधकर्ता भी) एक बहुत ही सामान्य-सी लगने वाली समस्या को समझने या उसका समाधान करने में स्वयं को असमर्थ पाता हूं। कई बार ऐसा भी होता है कि सालों पहले पाठ्यक्रमों और परीक्षाओं में जिन विषयों और अवधारणाओं से सामना कई बार हुआ था, अब वे अबूझ प्रतीत होने लगती हैं और हम जो शोध कार्य कर रहे हैं, उसमें वे आसानी से लागू नहीं हो पाती हैं। हमारा शोध और पाठ्यक्रमों व परीक्षाओं के माध्यम से वर्षों में हासिल पृष्ठभूमि कई बार असम्बद्ध नज़र आते है। जिन सवालों का समाधान परीक्षाओं में हम आसानी से कर सके थे, अब रोज़ाना के शोध में बहुत छोटे-छोटे सवालों का समाधान भी मुश्किल नज़र आने लगता है, जबकि उनके हल निश्चित रूप से मौजूद हैं। श्वाट्र्ज़ कहते हैं कि पीएच.डी. कार्यक्रम के दौरान अक्सर विद्यार्थियों को यह एहसास नहीं हो पाता है कि शोध करना कितना कठिन है। वे आगे कहते हैं : 'हम अपने विद्यार्थियों को उत्पादक ढंग से मूर्ख होने के बारे में नहीं सिखा पाते हैं, यानी यदि हम स्वयं को मूर्ख महसूस नहीं करते हैं तो इसका मतलब है कि हम वाकई में कोशिश नहीं कर रहे ...उत्पादक मूर्खता का मतलब है जानबूझकर अनभिज्ञ बने रहना। महत्वपूर्ण सवालों पर ध्यान केंद्रित करने से हम अनभिज्ञ बनने की अजीब स्थिति में आ जाते हैं। विज्ञान में एक बहुत अच्छी बात यह है कि यह हमें भटकते रहने की अनुमति देता है: हम बार-बार गलतियां करते हैं मगर तब तक पूरी तरह से अच्छा महसूस करते हैं, जब तक कि हम हर बार कुछ सीखते जाते हैं।' इसे पढ़ने के बाद मैं कह सकता हूं कि विज्ञान के प्रति 'भटकाव' का नज़रिया, जो मुझे पसंद है और जिसका श्वाट्र्ज़ ने बहुत ही सरल शब्दों में वर्णन किया है, बहुत तेज़ी से खत्म होता जा रहा है। आज विज्ञान बहुत ही संगठित और पेशेवर क्रियाकलाप बनकर रह गया है। यानी प्रोजेक्ट अच्छी तरह से सोच-विचारकर तैयार किए जाते हैं, शोध करने का एप्रोच या नज़रिया अंतिम बिंदु तक निर्धारित कर लिया जाता है और नतीजे अक्सर लगभग पूर्वानुमानित होते हैं। अकादमियों में कार्यरत सुव्यवस्थित प्रबंधकीय वैज्ञानिकों के पास 'भटकाव' के लिए शायद ही कोई समय होता है और यह तय है कि 'मूर्खता' को सराहा नहीं जाता। अनभिज्ञता, उत्साह व आश्चर्य से फटी आंखों जैसी विशेषताएं, जो किसी शोध में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं, अब देखने को नहीं मिलतीं। यहां तक कि शोध प्रयोगशालाओं में भी इफरात में ऐसे 'विशेषज्ञ' होते हैं जिनके पास हर उस समस्या का समाधान होता है जो उनके सामने आती है। प्रयोग की दरकार अक्सर साफ-सुथरी परिकल्पना को सिद्ध करने भर के लिए होती है। यदि प्रयोगशाला के परिणाम परिकल्पना पर कोई सवाल उठाते हैं तो उन परिणामों के लिए स्नातक विद्यार्थियों की कमज़ोर प्रायोगिक क्षमता को ज़िम्मेदार ठहरा दिया जाता है - उन्हें अक्सर वैज्ञानिक सफलता के कठिन रास्ते पर कुर्बान कर दिया जाता है।

कोई वैज्ञानिक कैसे बन सकता है? यूएस नेशनल एकेडमी ऑफ साइंसेज़ के पूर्व अध्यक्ष और 'साइंस' के संपादक ब्रूस अल्बर्ट्स के अनुसार, 'आम तौर पर शिष्यवृत्ति और प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों के मार्गदर्शन में प्रयोगशालाओं में शोध करके कोई वैज्ञानिक बनता है'। इन्हीं 'शिष्यवृत्तियों' के दौरान विद्यार्थी यह सीखते हैं कि शोध कार्य कैसे किया जाए। कैरियर का यही वह चरण होता है जब विद्यार्थियों को, श्वाट्र्ज़ के शब्दों में,

'उत्पादक ढंग से मूर्ख' बनना सीखना चाहिए। श्वाट्र्ज़ यह भी कहते हैं कि विज्ञान शिक्षा उस बहुत बड़ी यात्रा को आसान बनाने के लिए बहुत कुछ कर सकती है। यह यात्रा होती है अन्य लोगों की खोजों से सीखने से शुरू करके स्वयं कुछ खोज करने तक। अल्बट्र्स कहते हैं, 'चूंकि किसी का वैज्ञानिक कैरियर शुरुआती अनुभवों से आकार लेता है, इसलिए यह काफी अहम है कि नए वैज्ञानिक अपने प्रशिक्षक का चुनाव होशियारी से करें, लेकिन दुर्भाग्य से 'अच्छी' पसंद कई बार इतनी स्पष्ट व आसान नहीं होती। सबसे अच्छा शोध सलाहकार वह होता है जो अपने स्नातक विद्यार्थियों को व्यर्थ के कार्यों में समय बर्बाद करने से रोकता है और नया करने व अपनी ही गलतियों से सीखने की स्वतंत्रता देता है।' इस तरह यहां 'मूर्ख' होने की ज़रूरत और गलतियों की महत्ता झलकती है।

शोध कार्य में और दरअसल ज़िंदगी में भी सबसे उपयोगी सबक है अपनी गलतियों से सीखना। एक स्वतंत्र वैज्ञानिक के रूप में कैरियर शुरू करने के लिए आम तौर पर दो 'शिष्यवृत्तियों' की ज़रूरत होती है। पहला चरण वह होता है जब विद्यार्थी के रूप में पीएच.डी. डिग्री हासिल की जाती है और दूसरे चरण में किसी प्रयोगशाला में शोधकर्ता के रूप में काम किया जाता है। अल्बट्र्स भावी वैज्ञानिकों को ऐसे क्षेत्र का चयन करने की सलाह देते हैं जिसमें उनका कौशल मददगार हो। हालांकि वे सावधान भी करते हैं, 'एक स्वतंत्र वैज्ञानिक के तौर पर सफलता के लिए तकनीकी कौशल ही पर्याप्त नहीं होगा।'

भारत ने उच्च शिक्षा और अनुसंधान संस्थानों के विस्तार का महत्वाकांक्षी चरण शुरू किया है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी उद्यमों के पुनरुद्धार में इतनी रुचि पहले कभी नहीं दिखाई गई थी। ये नारे बार-बार दोहराए जाते रहे हैं - और अधिक पीएच.डी., और अधिक प्रयोगशालाएं, और अधिक प्रकाशन, और अधिक आविष्कार, और अधिक पेटेंट - विज्ञान एवं अनुसंधान से जुड़े हर क्षेत्र में 'कुछ और' की तमन्ना। विस्तार के इस चरण की सबसे बड़ी समस्या बड़ी संख्या में विद्यार्थियों और नए शिक्षकों की भर्ती करने को लेकर है। राष्ट्रव्यापी विस्तार योजना के ज़ोर पकड़ते ही मौजूदा संस्थानों को भी कुछ नए तालमेल करने चाहिए। यह एक ऐसा मौका हो सकता है जब हम पूछ सकते हैं कि क्या पीएच.डी. प्रणाली की समीक्षा की जा सकती है और क्या डगमगाते पोस्ट डॉक्टरल कार्यक्रम को और मज़बूती व विस्तार देने की ज़रूरत है। युवा फैकल्टी सदस्यों की भौतिक व कुछ हद तक बौद्धिक ज़रूरतों को समझा जाना चाहिए। मुझे लगता है कि हमारे संस्थानों में यह भावना व्यापक तौर पर पैठी हुई है कि वित्तीय संसाधन, 'ढांचागत सुविधाएं' और 'सक्षम प्रशासन' ही अनुसंधान में सफलता के निर्धारक कारक होते हैं।

ऐसा लगता है कि विद्वत्तापूर्ण शोध को प्रोत्साहित करने के लिए ज़रूरी बौद्धिक माहौल का निर्माण करने के लिए एक सामूहिक एप्रोच को बढ़ावा देने की ज़रूरत पर संस्थानों और विभागों में बहुत कम चर्चा होती है। 'मूर्खता' (खासकर 'उत्पादक मूर्खता') के महत्व को सराहने वाला माहौल जोश से भरने वाला होगा। लेकिन दुर्भाग्य से हमने अनुसंधानों का ज़रूरत से ज़्यादा 'पुरस्कारीकरण' कर दिया है और इसी का नतीजा है कि हमारी बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं में कार्यरत अधिकांश युवा शोधकर्ता समझने लगते हैं कि उन्हें नियमित अंतराल पर मान्यता (पुरस्कार और फेलोशिप) मिलती रहनी चाहिए। ऐसे में श्रेष्ठ जर्नलों में प्रकाशन के दबाव के चलते 'मूर्ख' बनने के लिए समय ही नहीं बचता है। ज़ाहिर है, हम उस दौर में नहीं लौट सकते, जब हमारे पास समय ही समय था। तो सवाल यह है कि एक शुरुआती वैज्ञानिक आज के दबाव का सामना कैसे कर सकता है? अल्बट्र्स कहते हैं कि यह वरिष्ठ वैज्ञानिकों की ज़िम्मेदारी है कि वे ऐसी व्यवस्था बनाएं जिसमें युवा वैज्ञानिकों को अपने पसंदीदा क्षेत्र में सफलता का मौका मिल सके। युवा फैकल्टी को परामर्श देना नए विद्यार्थियों को प्रभावित करने से कठिन होता है। शुरुआत 'मूर्खता' के महत्व को मान्यता देकर हो सकती है। ***(स्रोत फीचर्स)***